SJIF 2014 = 3.189
ISSN: 2348-3083
An International Peer Reviewed & Referred
SCHOLARLY RESEARCH JOURNAL FOR HUMANITY SCIENCE & ENGLISH LANGUAGE

हिन्दी साहित्य में विविध विमर्श

कुलदीप सिंह मीना, Ph. D.

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

E-mail : *kuldeepjnvu@gmail.com*

Scholarly Research Journal's ***is licensed Based on a work at*** *www.srjis.com*

हिन्दी साहित्य लेखन के इतिहास की एक लम्बी परम्परा रही है। समय–समय पर अनेक परिवर्तन हुए, जिन्होंने हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा को आगे बढ़ाया। 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' इस उक्ति के आधार पर कहा जाये तो हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लेकर साहित्य की विविध विधाओं के दर्पण में हमारे समाज का चेहरा दिखाई देता है। लेकिन यह कहा जाये तो गलत नहीं होगा कि इस साहित्यिक दर्पण के पीछे भी मुख्यधारा के समाज से इतर एक अलग–थलग पड़ा समाज भी था, जिसका चेहरा अभी तक इस साहित्य दर्पण में कमोबेश कहीं दिखाई भी दिया था तो विकृत छवि के साथ। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते–आते समाज, राजनीति और साहित्य में आज तक गुमनाम और हाशिए पर रहे लोगों की आवाज की सुगबुगाहट सुनाई देने लगती है। अब भारत में नए सामाजिक आन्दोलनों का उभार सामने आनेल लगता है। परिणामस्वरूप हाशिए के इन लोगों में अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर चेतना जाग्रत होती है और ये उत्पीड़ित लोग साहित्य में अपनी आवाज को बुलन्द करते हैं।

स्त्रियों, किसानों, दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों तथा किन्नरों और जातीयताओं की नई एकजुटता ने ऐसी मांग करते हुए अपने मुद्दे उठाये जो स्थापित समाजशास्त्रीय पहलू और परम्परागत राजनीति के सहारे आसानी से ना तो समझे जा सकते थे और ना ही सुलझाये जा सकते थे। लेकिन समाज और राजनीति के परम्परागत ढाँचे को हिलाने लगे, जिससे तमाम बुद्धिजीवियों, समाजशास्त्री एवं राजनीतिशास्त्रियों को पुनर्विचार करने पर मजबूर

किया। समाज के निम्न पायदान या हाशिये के लोगों को अपने होने का अहसास होने लगा था। ये अपने साथ होने वाले शोषण से छटपटाने लगे थे। इन अस्मिताओं ने अपने साथ होने वाले शोषण के लिए अपनी खास अस्मिता को कारण बताया और उस शोषण तथा भेदभाव से संघर्ष के लिए उस सम्बन्धित अस्मिता/पहचान को धारण करने वाले समुदाय को अपने साथ लेकर अपनी मुक्ति के लिए सामूहिक अभियान चलाया।''[1] सदियों से समाज के हाशिए पर रहे इन समुदायों का शोषण होता रहा है, फलतः अपने पर हो रहे इस शोषण के विरुद्ध चेतना जाग्रत कर संघर्ष करने लगे। इस शोषण और संघर्ष का आधार अस्मिता को बनाया, जो उनकी पहचान है। वंचितों के शोषण के खिलाफ उठ खड़ी हुई मुहिम में सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलनों के अलावा साहित्यिक आन्दोलनों ने भी बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया। परिणामस्वरूप दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, किन्नर विमर्श आदि साहित्य जगत् में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा चुके हैं। वो पक्ष अलग हो सकता है कि तथाकथित मुख्यधारा के स्वनामधन्य साहित्यकारों को ये विमर्श साहित्य में आरक्षण की मांग लग रहे थे। लगते भी कैसे नहीं उनकी जड़े हिलने लगी थी। आज तमाम विरोध और आलोचनाओं के बावजूद आज ये विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में स्थापित हो चुके हैं।

दलित विमर्श–

भारतीय समाज व्यवस्था में वर्णभेद के आधार पर श्रेष्ठता और पवित्रता के नाम पर जो अन्तर किया जाता रहा है, जिसके आधार पर तथाकथित लोगों ने देश के बहुसंख्यक लोगों को पशुओं से भी बदतर जीवन जीने से विवश किया। या कहें कि उसे अछूत मानकर समाज की मुख्यधारा से दूर हाशिए पर धकेला दिया जाता रहा है। इस सामाजिक उत्पीड़न की कराह से आहत समाज को अस्पृश्य, अछूत, शूद्र, चमार, चूड़ा, चाण्डाल जैसे घृणित नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है। लेकिन अब शिक्षा के प्रचार–प्रसार से इन तबकों में चेतना जाग्रत होने लगी है। ये अब अपने लिए सम्बोधित किए जाने वाले घृणित नामों के स्थान पर 'दलित' पद का प्रयोग करने लगे। वे अब सदियों से स्थापित घृणित वर्ण व्यवस्था की बेड़ियों को तोड़ने के लिए तैयार होने लगे थे। जाति और वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध उपजी चेतना ही विमर्श है। डॉ. गंगासहाय मीणा का मत है– ''दलित विमर्श उस समाज व्यवस्था के नकार से उपजी चेतना का नाम है, जिसमें जाति और वर्ण के आधार पर मनुष्य मात्र में अन्तर किया जाता है।''[2] अब ये दबे, कुचले और हीन माने जाने वाले लोग श्रेष्ठ कहे जाने वाले लोगों से दया मांगने के बजाय अपने अधिकारों की बात कर समाज में परिवर्तन की मांग उठाने लगे हैं। साहित्य की विविध विधाओं के माध्यम से दलित साहित्यकारों ने दलित समाज में चेतना जाग्रत करने का कार्य

किया है। इसी सम्बन्ध में दलित चिन्तक डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं– ''दलित साहित्यकारों ने विद्रोह और आक्रोश भरी रचनाओं के जरिए स्वतन्त्रता, समानता और न्याय का स्वर बुलन्द किया तथा दलित समुदाय में आत्मगौरव का भाव भरने का अभियान चलाया।''

नब्बे के दशक में दलित लेखन ने हिन्दी पट्टी में पूरे जोश और चेतना से लैश होकर अपनी जगह बनाई। भूण्डलीकरण और उदारीकरण के दौर में अपने जीवन के दुःख, दर्द, पीड़ा और वर्ण व जाति आधारित हुए भेदभाव को अपनी लेखनी का विषय बनाया, जो हिन्दी साहित्य में एकदम नया कदम था। साहित्य की विविध विधाओं – कहानी, कविता, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक आदि के माध्यम से अपने स्वर को बुलन्द किया। विधा कोई सी भी रही हो लेकिन विषय वस्तु का स्वर आत्मकथ्य ही रहा है। विशेष तौर से दलित आत्मकथा हिन्दी साहित्य में प्रमुख रूप से उभरकर सामने आई इन आत्मकथाओं के लेखक का अपना दुःख एवं पीड़ा रही। लेकिन अपने आत्मकथ्य के माध्यम से सदियों से उपेक्षित, पीड़ित समाज के दर्द को उकेरा। ऐसी आत्मकथाओं में जूठन–ओमप्रकाश वाल्मीकि, मेरा बचन मेरे कंधों पर – श्योराज सिंह बैचेन, तिरस्कृत– सूरजपाल चौहान, मुर्दहिया, मणीकर्णिका – तुलसीराम, दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, शिकंजे का दर्द – सुशीला टाकभौरे प्रमुख हैं।

कविता के माध्यम से भी दलित रचनाकारों ने दलित समाज के उत्पीड़न का यथार्थ चित्रण किया हैं दलित कविता में किसी प्रकार का रहस्य नहीं है ना ही शब्दों का कोई मकड़जाल। ''दलित समाज पर सदियों से रूढ़ियों, प्रथाओं, सामन्ती कायदों की मार पड़ती रही है, उसी आहें–कराहें दलित कविता बनी हैं।''[4] दलित कविता हिन्दी कविता के बने–बनाये प्रतिमानों मूल्यों, विम्बो को तोड़ती हुई आगे आती है। दलित समाज के सदियों से हुए शोषण को नए कलेवर में यथार्थता के साथ प्रस्तुत करती है। अपनी पीड़ा, दर्द को बयाँ करने के लिए नये प्रतीकों की तलाश करने के साथ वर्ण व्यवस्था को नकारती है। नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना करना दलित रचनाकारों का उद्देश्य रहा है। हिन्दी के दलित कवियों में सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका – ओमप्रकाश वाल्मीकि, हार नहीं मानूंगा – ईश कुमार, सुनो ब्राह्मण – मलखान सिंह, सूरजपाल चौहान, पदचाप – रजनी तिलक के साथ विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में और दलित कवियों की कविताएँ प्रकाशित होती रही है, जिनमें दलित समाज के स्वर को यथार्थपरकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है।

आत्मकथा और कविता के साथ कहानी मैं भी दति समाज को शोषण, पीड़ा, दर्द, कराह को सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। शुरुआत में जहाँ विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में दलित कहानियाँ प्रकाशित हुई। धीरे–धीरे उनमें संकलन प्रकाशित होकर साहित्य में दलित कहानी

महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में उभरकर सामने आई। इन कहानियों में दलित समाज के शोषण, पीड़ा, दर्द के साथ दलित समाज के लोगों की विसंगतियों और अन्तर्विरोधों को भी अभिव्यक्त किया है। ''दलित कहानी में जहाँ भारतीय गाँव में व्याप्त वर्ण व्यवस्था और सामन्ती व्यवस्था में पिसते दलितों का हाहाकार है, वहीं छोटे शहरों, महानगरों में बसे सरकारी नौकरियों में जीवन निर्वाह करते अधिकारियों, क्लर्कों, कर्मचारियों की व्यथा–कथाएँ हैं, साथ ही दलितों में उभरते आक्रोश, विरोध, संघर्ष की तीव्र चेतना छवि भी है, जो बदलाव का संकेत है।''[5] हिन्दी के प्रमुख दलित कहानीकारों में सलाम, घुसपैठिया – ओमप्रकाश वाल्मीकि, संघर्ष – सुशीला टाकभौरे, थमेगा नहीं विद्रोह – उमराव सिंह जाटव, हैरी कब आएगा – सूरजपाल चौहान, हिन्दी की पहली दलित कहानियाँ – सं. सूरजपाल चौहान, दलित समाज की कहानियाँ – रत्नकुमार सांभरिया प्रमुख हैं।

इनके अलावा उपन्यास और आलोचनात्मक पुस्तकें प्रमुख है, जिनके लेखन ने दलित विमर्श की सैद्धान्तिकी निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसी पुस्तकों में दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र – ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र – शरण कुमार लिम्बाले, दलित विमर्श की भूमिका – कँवल भारती, दलित साहित्य की भूमिका – हरपाल सिंह अरूष, नवें दशक की हिन्दी दलित कविता – रजतरानी मीनू प्रमुख है।

स्त्री विमर्श :

पिछले दो–तीन दशकों में स्त्री विषयक लेखन में काफी तेजी आई है। जीवन के अनेक क्षेत्रों में भले ही स्त्री को उपेक्षित माना जाता रहा हो। लेकिन आज तमाम विरोधों और आलोचनाओं के बावजूद लैंगिक भेदभाव और असमानता से जुड़े मुद्दों पर सृजनात्मक लेखन लगातार बढ़ रहा है। इस सृजनात्मक लेखन को 'स्त्री विमर्श' की संज्ञा दी गई। जिसका तात्पर्य स्त्री लेखन, विमर्श और सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में उनकी स्थिति को प्रभवित करने वाले मुद्दों तक जाता है। ''इस प्रकार स्त्री विमर्श का अर्थ है स्त्री को केन्द्र में रखकर समाज, संस्कृति, परम्पराएँ एवं इतिहास का पुनरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की अनवरत प्रक्रिया।''[6] इसी तरह स्त्री विमर्श को परिभाषित करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं – ''औरत का केवल स्वतन्त्र होकर निर्णय ले सकना या आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। सही मायने में स्त्री अस्मिता का अर्थ हेागा। स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव जिसमें स्त्री का स्वयं का दृष्टिकोण भी शामिल है। पुरुष के बराबर हक, स्त्री के चयन, वरण और नकारने की स्वतन्त्रता स्त्री अस्मिता की मुख्य शर्तें हैं।''[7]

हिन्दी में स्त्री के द्वारा स्त्री सम्बन्धी लेखन का प्रारम्भ मीरा बाई से मान सकते हैं जिसे हम साहित्य में स्त्री विमर्श कहते हैं। हिन्दी लेखन में महादेवी वर्मा ऐसा दूसरा नाम माना जा सकता है, जिसने स्त्री जीवन की विविध समस्याओं और उनसे जुड़े हुए प्रमुख सवालों को पूरी शिद्दत के साथ उठाया है। लेकिन तमाम चिन्तक और आलोचक स्त्री–विमर्श की शुरूआत सीमोन द बाबुआ के नेतृत्व में पश्चिम में चले स्त्री मुक्ति के आन्दोलनों के प्रभाव में हिन्दी पट्टी में चले आन्दोलनों से मानते हैं।

सत्तर–अस्सी के दशक तक आते–आते हिन्दी लेखन में स्त्रीवादी स्वर अपनी स्वतन्त्र पहचान बना चुके थे। 1975 में बर्लिन में हुए अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री सम्मेलन में तमाम भारतीय स्त्रियों की भागीदारी के बाद स्त्रीवादी स्वर अधिक बुलन्द होने लगा था। अब तक स्त्री भारत के सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में दखल दे चुकी थी। परिणामस्वरूप साहित्य लेखन में भी वे अब सक्रिय भागीदारी निभाने लगी थी। ऐसी महिला लेखिकाओं में कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, प्रभा खेतान, मृणाल पाण्डेय, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, मैत्रेयी पुष, अनामिका, राजी सेठ, कात्यायनी आदि प्रमुख है, जिन्होंने स्त्री की समस्याओं और स्त्री जीवन के विविध पक्षों का साहित्य में उल्लेख किया।

साहित्य की विविध विधाओं कविता, उपन्यास, कहानी और आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री रचनाकारों ने अनेक सवाल उठाये, जो स्त्री को अपनी स्वतन्त्र जीवन्त अस्मिता से परिचय करवाते हैं। ''स्त्री की आर्थिक स्वायत्ता का प्रश्न, यौन शुचिता का प्रश्न, स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का प्रश्न, स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता और अस्तित्व का प्रश्न, उत्पीड़न की शिकार हुई स्त्री का प्रश्न, स्त्री के देहवाद का प्रश्न, विवाह और परिवार से जुड़ने प्रश्न आदि। इन तमाम प्रश्नों पर लेखिकाओं ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा समाज के स्थापित स्त्री विरोधी मूल्यों, मर्यादाओं, मिथकों, आदर्शों एवं विधि निषेधों की कड़ी आलोचना करते हुए उन्हें तोड़ने के लिए अपने साहित्य में ऐसे चरित्रों की रचना की है, जो उनके कल्पित विचार के अनुकूल हो।''[8]

दलित विमर्श भाँति स्त्री विमर्श में भी लेखन की विधाा कोई सी भी रही हो। उसका मूल स्वर आत्मकथ्य ही रहा है। हिन्दी उपन्यास में लेखन में स्त्री के तमाम सवालों का उल्लेख करते हुए महिला लेखिकाओं ने अपने आत्मकथ्य को समस्त महिलाओं के सवाल बताकर महिला की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति को स्पष्ट किया है। मृदला गर्ग के 'कठगुलाब' उपन्यास में नारी का शोषण और विद्रोह, मैत्रेयी पुष्पा में 'चाक' में दैहिक स्वतन्त्रता की मांग, मन्नू भण्डारी में 'त्रिशंकु' में पितृसत्तात्मक मूल्यों का नकार के चित्रण के अलावा मैत्रेयी पुष्पा के झूलानट, अल्मा कबूतरी, चित्रा मुद्गल के आवां, प्रभा खेतान का 'छिननमस्ता', गीतांजलि श्री का

'माई' मृणाल पाण्डे के 'रास्तों पर भटकते हुए' ऐसे उपन्यास हैं जिनमें स्त्री जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है।

कविता के क्षेत्र में महिला रचनाकारों ने स्त्री जीवन की व्यथा–कथा से लेकर आशा–आकांक्षाओं के साथ पारम्परिक मूल्यों से द्वन्द्व को उजागर किया है। अनामिका, सविता सिंह, कात्यायनी, गगन गिल, अनुराधा सिंह, सुधा अरोड़ा, रजनी तिलक, रंजना जायसवाल, नीलेश रघुवंशी, निर्मला पुतुल, सुशीला टाकभौरे प्रमुख हैं। इसी तरह आत्मकथा के क्षेत्र में 'अन्य से अनन्या – प्रभा खेतान, एक कहानी यह भी – मन्नू भण्डारी, कस्तुरी कुण्डल – वसै और गुड़िया भीतर गुड़िया – मैत्रेयी पुष्पा, हादसे– रमणिका गुप्ता, दोहरा अभिशाप – कौशल्या वैसंत्री, शिकंजे का दर्द– सुशीला टाकभौरे प्रमुख है, जिनमें इन लेखिकाओं ने अपने आत्मकथ्य का चित्रण व्यापक स्तर पर किया है। आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास–सुमने राजे का नाम प्रमुख है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श में स्त्री अस्मिता से जुड़े तमाम मुद्दों को उठा गया है। लेकिन इसके साथ ही स्त्री लेखन को लेकर अनेक आक्षेप लगाये जाते रहे हैं, जो इस प्रकार है – पहला, क्या स्त्री लेखन स्त्रियों द्वारा स्त्रियों के लिए स्त्रियों की समस्याओं पर लिखा जाने वाला साहित्य है? दूसरा सवाल है – क्या स्त्री लेखन देह विमर्श में तब्दील होकर अपनी प्रासंगिकता एवं वैधता नहीं खो रहा है? इन्हीं प्रश्नों का जवाब देते हुए आलोचक रोहिणी अग्रवाल कहती हैं– ''वस्तुतः ये शंकाएँ सवाल नहीं, वर्चस्ववादियों द्वारा किसी भी अस्मिता आन्दोलन को कुचलने की साजिशें है। गहराई से देखें तो पहला प्रश्न अपने भी एक अन्य प्रश्न छिपाये हैं। गहराई से देखे तो पहला प्रश्न अपने में भी एक अन्य प्रश्न छिपाये है कि क्यों पितृसत्तात्मक व्यवस्था का वर्चस्ववादी पक्ष (पुरुष एवं पुरुषवादी स्त्रियाँ) स्त्री साहित्य से कतराता है? क्या इसलिए कि यह उन्हें आत्म–साक्षात्कार करने की कटु प्रतीति देता है, जहाँ वे स्वयं अभियुक्त के रूप में कठघरे में खड़ा पाते हैं?''[9] दूसरा प्रश्न नैतिकतावादी दृष्टिकोण से स्त्रियों की उन्मुक्ता और उससे समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर संकेत हैं। किन्तु स्त्री लेखन से सरोकार रखने वाली रचनाकार एवं आलोचक इनका खण्डन करते नजर आते हैं। इस सम्बन्ध में आलोचक रोहिणी अग्रवाल का मत है– ''यहाँ भी प्रश्न उठता है कि स्त्रियों के दाम्पत्येतर एवं प्रेम सम्बन्धों के कारण स्त्री रचनाकारों द्वारा रचित साहित्य तिरस्करणीय है तो इससे पूर्व स्त्री को भोग्या समझकर रचा जाने वला शृंगारी एवं रीतिकालीन साहित्य क्यों त्याज्य नहीं? स्त्री–विमर्श भोगपरक दृष्टि से देह मुक्ति की बात नहीं करता, देह को पुरुष की सम्पत्ति बनाने वाली पुंसवादी मान्यताओं का विरोध करता

हैं।''[10]

अन्ततः कहा जा सकता है कि आज तमाम विरोधों के बावजूद स्त्री विमर्श आक्रामक आन्दोलन के रूप में अकादमिक जगत् में बहस का मुद्दा बन चुका है, क्योंकि यह स्त्री को केन्द्र में रखकर स्त्री की दृष्टि परम्परागत व्यवस्था का नये जीवन मूल्यों के साथ मूल्यांकन करने की बात करता है, जिससे स्त्री को मनुष्य होने की पहचान दिलाता है।

आदिवासी विमर्श :

दलित और स्त्री विमर्श की भाँति समकालीन हिन्दी लेखन में आदिवासी विमर्श उभरकर सामने आता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के सभी वर्गों को विकास का अवसर मिला और कुछ वर्ग विकास की चरम सीमा पर पहुँचकर अर्थव्यवस्थावादी समाज के अगुवा बन गये हैं। परन्तु यह चिन्ता का विषय रहा कि आधुनिकता के इस विकासवादी दौर में आदिवासी समाज जहाँ जैसा था, वहीं का वहीं रूका रहा। यह कटु सत्य है कि आदिवासी समुदाय समाज की मुख्यधारा से दूर उपेक्षित और अभावग्रस्तता के साथ अपना नैसर्गिक जीवन जी रहा था, जो प्रकृति के सन्निकट रहकर अपनी संस्कृति और परम्पराओं के साथ वह अपने आप को बचाये हुए था।

आज आदिवासी समाज और साहित्य पर काफी बातें हो रही है, लेकिन वह बहुत सारी चुनौतियों से जूझ रहा है। आदिवासियों की समस्याएँ आज के विकासवादी युग में सुलझने के बजाय उलझती जा रही हैं। इसका सबसे बड़ा कारण आदिवासी जीवन और समाज के आदिवासी जीवन और समाज से बाहरी समाज और सरकारों का गैर–जिम्मेदाराना और उपेक्षित दृष्टिकोण है। आदिवासी समाज से संवाद में आदिवासी साहित्य एक सशक्त माध्यम बन सकता है। इसी सम्बन्ध में आदिवासी चिन्तक लिखते हैं – आदिवासी साहित्य की लम्बी मौखिक परम्परा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और जीवन दृष्टि के बुनियादी तत्त्वों की पहचान कर सकते हैं। वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू–ब–रू कराता है।''[11] आदिवासी साहित्य और विमर्श को लेकर एक भ्रम जरूर बन गया था कि आखिर आदिवासी विमर्श किसे कहेंगे। स्त्री और दलित विमर्श की भाँति क्या आदिवासी द्वारा किया गया लेखन ही आदिवासी विमर्श है और दूसरा आत्मकथ्य ही अन्य विमर्शों की तरह मूल स्वर है। यहाँ दोनों ही सवालों का खण्डन किया जाता है।

आदिवासी साहित्य को लेकर अलग–अलग विद्वानों ने आदिवासी नजरिये से परिभाषित किया है। महादेव टोप्पो इसी सम्बन्ध में लिखते हैं ''आदिवासी साहित्य किसी एक भाषा या एक भौगोलिक सीमा मात्र से बंधा नहीं है, लेकिन एक विशेष मानसिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक,

सामाजिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों में विशिष्ट जीवन शैली में बँधे होने के कारण आदिवासी साहित्य कहा जाता है।''[12] डॉ. अर्जुन चव्हान के अनुसार ''आदिवासी समाज के बारे में किया गया गहन विचार चिन्तन ही आदिवासी विमर्श है। यह वह विमर्श है, जिसमें आदिम जनजातियों के जीवन व्यवहार पर गम्भीरता से सोच–विचार करता है।''[13] वरिष्ठ आलोचक वीरेन्द्र यादव का मत है – ''आदिवासी साहित्य की पहली शर्त उसका संवेदना, संघर्ष और जीवनानुभवों के स्तर पर गहरी संलग्नता है।''[14] अतः कहा जा सकता है कि आदिवासी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है, मानसिकता बदलने का साहित्य है। आत्मालोचना का साहित्य है, जो साहित्य की मुख्यधारा में शामिल हो रहा है।

भारत के आदिवासी जंगलों और पहाड़ों में निवास करते आये हैं। उनकी आजीविका जंगल की उपज थी और ये यायावर प्रवृत्ति के रहे हैं, जिससे इनकी मौखिक परम्परा रही और शिक्षित व चिन्तनशील वर्ग का ध्यान लम्बे समय तक नहीं गया। भारत के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी साहित्य मुख्यतः मौखिक रूप में उपलब्ध है। वर्तमान समय में बदलते परिवेश के कारण आदिवासी समुदायों में चेतना जाग्रत हुई, जिससे मौखिक साहित्य को लिखित रूप प्रदान किया जाने लगा है। आदिवासी साहित्य आदिवासियों एवं गैर–आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य है। इसके आधार पर आदिवासी साहित्य का वर्गीकरण तीन रूपों में कर सकते हैं –

1. मौखिक रूप से उपलब्ध आदिवासी साहित्य।
2. आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य।
3. गैर–आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य।

समकालीन हिन्दी लेखन में उदारीकरण, बाजारवाद और भूमण्डलीकरण का उभार देखने को मिलता है, जिसका प्रभाव सबसे ज्यादा आदिवासी समाज पर पड़ता है। विकास के नाम पर जिस औद्योगिकीकरण, सेज, बाँध परियोजनाओं, राजमार्गों के निर्माण की बात की गई, उनकी शुरूआत आदिवासियों की जमीन अधिग्रहण के साथ होती है। यहीं से प्रारम्भ हो जाता है समाज के एक हिस्से का भरपूर विकास और देश की बुनियाद आदिवासी समाज को हाशिए पर धकेलने का प्रयास, जिससे विकास के नाम पर विस्थापन की त्रासदी आदिवासी समुदायों को झेलनी पड़ती है। इस विस्थापन की प्रक्रिया से एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान खत्म होती जा रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया। अगर वे अपनी पहचान को सुरक्षित रखते हैं और अस्तित्व का संकट सामने आता है, अस्तित्व को बचाते है तो सांस्कृतिक विलोपन। विस्थापन के साथ शोषण आदिवासी समाज की दूसरी समस्या है। नैसर्गिक जीवन जीने वाले इन सीधे–साधे लोगों के बीच साहूकार, जमींदार, प्रशासन के कारिंदे विकास के नाम पर दखल देते हैं और इनका शोषण करते हैं। आजीविका का संकट इनके सामने बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। तमाम चुनौतियों से जूझते हुए में अपने अस्तित्व और अस्मिता पर आये संकट को बचाने की मुहिम छेड़े हुए हैं।

समकालीन हिन्दी लेखन में आदिवासी समाज की इन्हीं चुनौतियों को आधार बनाकर

विविध विधाओं को लेखन कार्य किया जा रहा है। बड़ी संख्या में आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी उपस्थित दर्ज कराई है। रामदयाल मुण्डा, निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा, मंजु ज्योत्स्ना, पीटर पॉल एक्का वॉल्टर भेंगरा, ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो, वंदना टेटे, सरिता सिंह बड़ाइक, हरिराम मीणा, प्रभात इत्यादि प्रमुख हैं। इनके साथ ही गैर– आदिवासी रचनाकारों ने इन समुदायों की विविध समस्याओं को आधार बनाकर लेखनी चलाई है। इनमें संजीव, श्रीप्रकाश मिश्र, राकेश कुमार सिंह, विनोद कुमार, वीरेन्द्र जैन, रणेन्द्र, हबीब कैफी, पुन्नीसिंह प्रमुख हैं।

अतः कहा जा सकता है हिन्दी लेखन में दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के बाद आदिवासी विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में अपना स्थान बना चुका है, जो अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए संघर्षरत है। इन विमर्शों को दलित, स्त्री और आदिवासी समुदायों की मुक्ति का विमर्श कहना होगा। परिणामस्वरूप ये हाशिए पर माने जाने वाले लोगों की अपने होने का एहसास होने लगा है, जिससे एक नई चेतना जाग्रत होकर नई ऊर्जा के साथ समाज और साहित्य की मुख्यधारा में अपना स्थान निर्धारित कर रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

आदिवासी और हिन्दी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष – गंगासहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2016, पृ.सं. 11

वहीं, पृ. सं. 20

हिन्दी दलित लेखन : उद्‌भव ओर विकास (आलेख) – बजरंग बिहारी तिवारी, संवेद, अंक–48, जनवरी–2012, पृ.सं. 7

आदिवासी और हिन्दी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष – गंगासहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2016, पृ.सं. 24

दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र – ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष – 2005, पृ.सं. 112

साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्‌वास – रोहिणी अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष – 2014, पृ. सं. 11

स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने – रमणिका गुप्ता, शिल्पायन, नई दिल्ली, वर्ष 2006, पृ.सं. 55–56

आदिवासी और हिन्दी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष – गंगासहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2016, पृ.सं. 15

साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्‌वास – रोहिणी अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष – 2014, पृ. सं. 27

वहीं

आदिवासी और हिन्दी उपन्यास अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष – गंगासहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष 2016, पृ.सं. 25

आदिवासी साहित्य : दशा, दिशा और चुनौतियाँ (आलेख) – महादेवी टोप्पो, अरावली उद्‌घोष, अंक–75, पृ. सं. 52

विमर्श के विविध आयाम, डॉ. अर्जुन चव्हाण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली वर्ष – 2008, पृ.सं. 181

कथाक्रम – अक्टूबर–दिसम्बर 2011, पृ.सं. 230